

कुर्सी चाहिए, कांग्रेसी बनो !

विकास नारायण राय

कांग्रेस के देश पर लम्बे अर्से के शासन ने राजनीतिक खेल के तमाम अन्य खिलाड़ियों को राज हथियाने का एक 'अनुकरणीय' माडल भी दिया है। सत्ता के दावेदारों के लिए सीधा समीकरण बनता है कि अगर राज चाहिए तो कांग्रेस बनो; यानी कांग्रेसीतरण! 2014 के चुनावी समर में उतरने तक प्रमुख दावेदार भाजपा इस माडल को पूरी तरह आत्मसात कर चुकी है। जब-तब तीसरे मोर्चे के नाम पर भी यही माडल झाड़-पोंछ कर बाहर निकला जाता रहा है, वही खेल इस बार भी चल निकला है। यह सफल कांग्रेसी माडल दो प्रमुख आयामों पर आधारित है - सभी का गीत गाना पर पूंजी से असल याराना और 'परखनली लोकतंत्र' में सिद्धहस्तता। आज के चुनावी परिदृश्य की शब्दावली में इन आयामों को क्रमशः परिभाषित करनेवाली अभिव्यक्तियाँ हैं: 'क्रोनी कैपिटलिज्म', और 'प्राइमरी'। पहली नजर में यह विस्मयकारी लगेगा कि दोनों अभिव्यक्तियाँ चुनावतंत्र में नए खिलाड़ी 'आप' की कवायदों से रेखांकित हुयी हैं। एक तरह से यह 'आप' द्वारा कांग्रेस की पोलपट्टी का खुलासा ही है, और साथ ही भाजपा एवं दीगर सत्ताभिलाषी पार्टियों के कांग्रेसीतरण का भी। इन अभिव्यक्तियों में स्वयं 'आप' के लिए भी चुनौती निहित है कि सत्ता की दौड़ में ताजातरीन शामिल पार्टी इस कांग्रेसी माडल से कहां तक परहेज कर पायेगी ?

सामान्यतः, बहुपार्टी प्रणाली में राजनीतिक दलों को इस या उस वर्ग के हितों के प्रतिनिधि के रूप में देखा जाना चाहिए। पर कांग्रेस हर वर्ग के हितों की प्रमुख प्रतिनिधि होने का दावा करती आयी है। स्वतंत्रता संघर्ष की राष्ट्रव्यापी अगुआई करनेवाली पार्टी के लिए शुरुआत में यह छूट लेना स्वाभाविक भी रहा होगा। महिला से लेकर मीडिया तक, श्रमिक से सरमायेदार, किसान से कमेरा, उपभोक्ता से व्यापारी, विद्यार्थी से बुद्धिजीवी, पेशेवर से अकुशल, संगठित से असंगठित, युवा, बेरोजगार, दलित, आदिवासी, पिछड़ा, अगड़ा, अल्पसंख्यक, अध्यापक, वकील, डाक्टर, सैनिक, कर्मचारी, अफसर, पेंशनयापता, शहरी, ग्रामीण, वनवासी, हर नाम पर पार्टी के प्रकोष्ठ हैं, हर एक के सामने फेंकने के लिए छोटे-बड़े टुकड़े होते हैं कांग्रेसी सरकारों के बजट में।

इस लिहाज से आज की भाजपा, कांग्रेस का हू-ब-हू प्रतिबिम्ब नजर आती है। गत दो दशकों से देश में आक्रामक रूप से पैठे बाजारवाद के पिछलगू बने इन दोनों राजनीतिक दलों की नीतियों, योजनाओं और प्रशासनिक कारगुजारियों में खालिस पूंजी-परस्ती और छद्म जनवाद सहज ही रमता गया है। भाजपा के नायक मोदी का 'सुशासन' का फामूला ले दे कर यही तो है कि उनके राज में फाइलें तेज निकलेंगी जबकि कांग्रेसी प्रशासन का पहिया लालफीताशाही में फंसा रहता है। आम भारतीय की तो कोई फाइल होती नहीं, लिहाजा उसके लिए दोनों दलों के पास एक जैसे प्रकोष्ठ और एक जैसे टुकड़े होते हैं। सत्ता प्रतिष्ठानों पर, जिनमें मीडिया का बड़ा वर्ग भी शामिल है, पूंजी की जकड़बंदी की बानगी है कि आम आदमी की राजनीति करने वाली पार्टी 'आप' के नायक केजरीवाल को भी दिल्ली की कुर्सी छोड़ने के तुरंत बाद पूंजीपतियों की सभा को आश्वस्त करना जरूरी लगा-बेशक उन्होंने उसी सभा में पूंजी और प्रशासन के भ्रष्ट याराने (क्रोनी कैपिटलिज्म) को खारिज करने की हिम्मत भी दिखाई।

2014 के चुनावी दौर में, आज 10 वर्ष के अंतराल पर, यदि भाजपा एक बार फिर स्वयं को केन्द्रीय सत्ता की मंजिलों के नजदीक पा रही है तो यह इस पार्टी के, अटलबिहारी वाजपेयी के नेतृत्व से गति पाए, गत दो दशकों के कांग्रेसीतरण की ही महिमा है। भाजपा अध्यक्ष राजनाथ सिंह के,

2002 के गुजरात नरसंहार को लेकर, आज मुस्लिम समुदाय से सरे आम माफी माँगने में पार्टी के सांस्कृतिक कांग्रेसीतरण की भूमिका देख पाना क्या मुश्किल है? वाजपेयी ने बतौर प्रधानमंत्री मोदी को इसी 'राजधर्म' की सीख दी थी। कांग्रेसियों ने भी 1984 के सिख नरसंहार से रिकार्ड चुनावी फसल काटने के बाद कालान्तर में इसी अंदाज में तो सिख समुदाय से माफी माँगी थी। राष्ट्रीय सुरक्षा और आंतरिक सुरक्षा के चीन से सीमा विवाद या अनुच्छेद 370 जैसे मुद्दों पर भाजपा खुद को कांग्रेस से बड़ी राष्ट्रवादी दिखाना चाहती है? पर नक्सल मोर्चे पर क्या भाजपाई और कांग्रेसी राष्ट्रवाद एक दूसरे के प्रतिबिम्ब ही नहीं? छत्तीसगढ़ में सरकार भाजपा की है और नक्सली हमलों में जान शीर्ष कांग्रेसियों को गवानी पड़ी! क्यों स्वयं मोदी को मौजूदा चुनाव प्रचार में चीन की विश्व-व्यापार में व्यापक पैठ की तारीफ करनी पड़ रही है ?

भाजपा के आर्थिक कांग्रेसीतरण की वस्तुस्थिति को, केजरीवाल की क्रोनी कैपिटलिज्म टिप्पणी के सन्दर्भ में, दो ताजा उदाहरणों से आंका जा सकता है। देश की राजनीतिक सत्ता हथियाने निकले 'चायवाले' मोदी का असली याराना किनसे है, यह जग जाहिर है - मुकेश अम्बानी की गैस कीमतों में धांधली और डी एल एफ के राबर्ट वाड्डा लैंड यूज चेंज प्रकरण, दोनों में कांग्रेसी सरकारी तंत्र की आपराधिक सलिप्तता पर मोदी के नेतृत्व में चल रहे भाजपा के राष्ट्रव्यापी चुनावी अभियान में पूर्ण चुप्पी चल रही है। सुब्रत राय (सहारा) और विजय माल्या (किंगफिशर) जैसी दर्जनों कारपोरेट धोखेबजियाँ भी, जो इस दौर में सार्वजनिक हुयी हैं, चुनावी रडार से बाहर हैं। क्योंकि मुकेश अम्बानी और डी एल एफ ही नहीं, तमाम क्रोनी कारपोरेटों की भाजपाइयों, और तीसरे मोर्चे से भी, वैसी ही परस्पर लाभप्रद घनिष्ठता बन चुकी है जैसी कांग्रेस से रही है।

भ्रष्ट याराने का दूसरा उदाहरण कहीं अधिक गंभीर है और सत्ता के तमाम दावेदारों के कांग्रेसीतरण के लिहाज से कहीं अधिक सटीक भी। भारतीय रुपये को कृत्रिम रूप से 'मजबूत' रखने के मोर्चे पर मनमोहन सरकार ने शायद ही कभी राजनीतिक अकेलापन महसूस किया हो। ऐसी राष्ट्रीय सहमति बेमिसाल है। यहां तक कि भाजपा ने अब गली-गली में बेलगाम विदेशी निवेश के मुद्दे पर भी दिखावटी परहेज तक करना छोड़ दिया है।

सवाल है सस्ता डालर चाहिए किसे? उन यार पूंजीपतियों को ही तो जो विदेशों में भारी डालर निवेश कर रहे हैं, जिसकी मात्रा भारत में हो रहे नकद विदेशी निवेश से कहीं ज्यादा है। ये आंकड़े मोदी और चिदम्बरम की अर्थ-दृष्टि की एक जैसी कहानी कहते हैं। दोनों को दिखाई नहीं देता कि देशी उपभोक्ता बाजार चीन के सामानों से पटे पड़े हैं, बैंकों को कारपोरेट लूट की प्रणाली बना दिया गया है और रीयल एस्टेट के कारोबार में रोजाना इतना काला धन पैदा होने दिया जा रहा है कि स्विस बैंकों को भी शर्म आ जाय।

सत्ता की प्रयोगशाला में कांग्रेसी माडल का दूसरा मत्वपूर्ण आयाम, 'परखनली लोकतंत्र' की प्रणाली, कांग्रेस ने कुछ इस विशिष्टता से विकसित की है कि राज के हर दावेदार के लिए इसका अनुसरण सुविधाजनक होने लगा। इस प्रणाली में लोकलुभावन प्रयोगों और आंकड़ों के सबजबाग तो भरपूर होते हैं पर लोकतांत्रिक जवाबदेही के लिए जगह नहीं छोड़नी होती। अगर नौकरशाही भ्रष्ट है तो उससे राहत के लिए 'परखनली लोकतंत्र' ने एक और नौकरशाही - लोकपाल की सौगात दे दी; अगर संसद और विधानसभाओं में केन्द्रित होकर लोकतंत्र आम आदमी की पहुँच से बाहर हो गया है तो स्थानीय निकायों और ग्राम सभाओं के नाम पर एक विकेन्द्रीकृत प्रशासनिक ढांचा हाजिर है - बेशक यहां भी निर्णय में आम

जन की भागीदारी नहीं रहेगी।

अगर व्यवस्था में ही निहित है कि सभी को रोजगार नहीं मिल सकता तो मनरेगा है, बैंक कर्ज की घोषणाएं हैं, आरक्षण हैं; अगर सभी को शिक्षा मयस्सर नहीं तो सर्व शिक्षा/प्रौढ़ शिक्षा अभियान हैं, मिड डे मील है, स्कूली दाखिले का आर्थिक कोटा है; अगर सभी के लिए चिकित्सा सुलभ नहीं तो कागजों पर सामूहिक बीमा योजनायें हैं; अगर सभी की पहुँच में आवास नहीं तो आर्थिक रूप से कमजोर वर्गों का दिखावटी कोटा है; अगर समय पर न्याय सुलभ नहीं तो आंकड़ों का पेट भरने को लोक अदालत हैं; अगर लड़कियों को कानूनन सामाजिक/आर्थिक रूप से सशक्त नहीं किया जा सकता तो कन्यादान की योजनाएं हैं, महिला पुलिस थाने हैं, मुफ्त स्कूली शिक्षा है; किसानों की फसलों के लिए न्यूनतम मूल्य हैं और मजदूरों के लिए न्यूनतम मजदूरी; बिजली-पानी नहीं तो न सही पर सब्सिडी है; और जिनके लिए यह सब भी नहीं, ऐसे लोगों की संख्या भी पचासों करोड़ होगी, उनके लिए बुढ़ापा पेंशन है, रेन बसें हैं, अनधिकृत कालोनी हैं, गरीबी रेखाएं हैं, आधार कार्ड हैं, हेल्प लाइन हैं। समाज में लोकतंत्र न सही, पर 'परखनली लोकतंत्र' में सब कुछ मयस्सर होता है!

देश का एक भी प्रमुख राजनीतिक दल लोकतांत्रिक तौर-तरीकों से संचालित नहीं है; एक भी नहीं जिसका आंतरिक संचालन पारदर्शी हो। कांग्रेस में नेतृत्व एक परिवार का विशेषाधिकार है और भाजपा में नेतृत्व और नीतियां राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ थोपता आया है। तमाम क्षेत्रीय दलों पर व्यक्तियों/परिवारों की तानाशाही कायम है जबकि कम्युनिस्ट पार्टियों का संचालन बंद प्रणाली से किया जाता है। कहना न होगा कि यह समूचा ढांचा उत्तरोत्तर कारपोरेट/काले धन पर निर्भर होता गया है। इस माहौल में 'आप' द्वारा कार्यकर्ता 'प्राइमरी' से चुनावी उम्मीदवारों के चयन का तरीका 'परखनली लोकतंत्र' को चुनौती है। पर अभी 'आप' की अपनी प्राइमरी कवायदें भी पूरी पारदर्शी नहीं हो सकी हैं जबकि कांग्रेस और भाजपा ने तो इन सीमित गतिविधियों को परखनली लोकतंत्र के ढाँचे में ही उतार लिया है।

कांग्रेसीतरण की गतिकी का धरातल समतल नहीं हो सकता। कांग्रेस को सत्ता से हटाने के ध्रुवीकरण दिखाते हैं कि राजनीति में जिस आसानी से चोला बदला जा सकता है, डी एन ए नहीं। मसलन धरना-प्रदर्शन आम आदमी पार्टी का डी एन ए है और, बावजूद दिल्ली में सरकार बना लेने के, वह रातों-रात बदल नहीं गया। कुछ वैसे ही जैसे बेलगाम भ्रष्टाचार कांग्रेस का डी एन ए बन चुका है और नंगी साम्प्रदायिकता भाजपा का; ये भी रातों-रात नहीं बदले जा सकते। बावजूद कांग्रेस द्वारा संसद में भ्रष्टाचार विरोधी बिलों का अम्बार लगाने के और बावजूद भाजपा के गुजरात संहार पर 'हमसे गलतियां हुईं, माफ़ करो' कहने के।

तीसरे मोर्चे को बेशक गैर-कांग्रेसी/गैर-भाजपाई कलेवर ओढ़ाया जाता हो पर इसमें शामिल दलों, जिन्हें न भ्रष्टाचार से परहेज है और न साम्प्रदायिक दोहन से, का जातिगत से लेकर क्षेत्रवादी अस्मिता का डी एन ए बदस्तूर है। बेशक वे सभी एक लोकतांत्रिक-गणतंत्रीय विकल्प के झंडे तले इकट्ठे होते हैं।

बेशक उनके मोर्चे में कम्युनिस्ट दल भी शरीक हों, जिनका समाजवादी डी एन ए जन-निरपेक्ष बौद्धिकता से पिंड नहीं छोड़ा पाता। यहाँ तक कि विज्ञापनों में अन्ना हजारे को ममता बनर्जी के लिए कुर्सी माँगते देखिये, जो सब सिर्फ कह रहे हैं, वह ममता कर दिखाएगी - यानी, नया कुछ नहीं। प्रायः कयास हैं कि 2014 के चुनावों में भ्रष्टाचार और तद्वर्जित महंगाई/बेरोजगारी के चलते कांग्रेस को हार मिलेगी। पर भाजपा या तीसरे मोर्चे के सत्ता हथियाने में भारतीय राजनीति के कांग्रेसीतरण की ही जीत होगी।

यूक्रेन में तख्तापलट

गैस और तेल के लिये अमेरिका का एक और खूनी दांव

रूस देशों की गैस और तेल को हड़पने की अमरीकन खूनी मुहिम का ताजातरीन शिकार यूक्रेन हुआ है। इससे पहले अमरीका इराक, लीबिया के तेल भंडारों पर कब्जा करने के लिए वहाँ की वैध सरकारों को तानाशाह बताकर वहाँ के लोगों के साथ खून की होली खेल चुका है। अलबत्ता सीरिया तक बात पहुँचते-पहुँचते रूस को यह जरूर समझ आ गया कि यह आग अब उसके दरवाजे तक पहुँच चुकी है और अपने हितों की रक्षा के लिये उसके निर्णायक हस्तक्षेप के कारण सीरिया में अमरीका या कहीं 'नाटो' देशों की यह कोशिश अब तक सफल नहीं हो पाई है। दुनिया के अमन पसंद लोगों के लिये गौर करने की बात है कि आतंकवाद के नाम पर जिस 'अल कायदा' नामक धार्मिक कट्टरपंथी संगठन के खिलाफ अमरीका लड़ने का दम भरता रहा सीरिया में वह उसी 'अल कायदा' के नेतृत्व में सरकार विरोधी हत्यारों को 'डेमोक्रेसी' के नाम पर संगठित करने की कोशिश करता रहा। अमरीका पर नकेल रखने वाले पूर्व सोवियत संघ के 1990 में विघटन के बाद ही अमरीका ने सभी छोटे देशों को अपने अंगूठे के नीचे रखने और उनके तेल भंडारों को कब्जाने की कुटिल योजना

बना ली थी। इसी के तहत सबसे पहले इराक के सद्दाम हुसैन को तानाशाह बताकर और उसपर सामूहिक नरसंहार ('वैपन्स आफ मास डेस्ट्रक्शन') के हथियार होने का आरोप लगाकर बिना संयुक्त राष्ट्र या अन्य किसी की सहमति या अनुमति के, हमला कर दिया। तब से लगी आग इराक में अब तक जल रही है और हजारों लोगों की जान ले चुकी है। हां उनके तेल भंडार जरूर सुरक्षित व शान्त और अमरीका के कब्जे में हैं। ध्यान रहे कि सद्दाम पर दूसरा आरोप यह था कि उसके आतंकवादी संगठन 'अल कायदा' से सम्बंध है जिसके साथ खुद अमरीका यमन में उसका दफ्तर खुलवा कर बात-चीत करना चाहता था और सीरिया में जिसके नेतृत्व में विद्रोहियों को वह संगठित कर रहा है। और यह बात तो अब जगजाहिर है कि सद्दाम के पास जन संहार के हथियार होने का आरोप बिल्कुल झुठा था और उस पर हमला करने का बहाना बनाने के लिये एक साजिश के तहत उसका प्रचार किया गया था। क्या अमरीका पर इराक में युद्ध अपराधों के लिये मुकदमा नहीं चलाया जाना चाहिये? अपनी इसी, तेल भंडारों की कब्जाने की, मुहिम की दूसरी पारी की शुरुआत अमरीका ने टयूनिशिया जैसे छोटे से देश में एक प्रायोगिक तख्तापलट करके की।

इस को आगे चल कर क्रान्ति और अरब स्प्रिंग जैसे रूमानी नाम दिये गये। इसके तहत लीबिया और मिस्र में तख्तापलट कर के उनके तेल भंडारों पर कब्जा किया गया। मिस्र में षडयन्त्र पूरी तरह सफल नहीं हो पाया और सत्ता मुबारक के हाथ से मुस्लिम कट्टरपंथी मौरसी के हाथों पहुँच गयी। लिहाजा अमरीका को वहाँ एक और 'डेमोक्रेटिक क्रान्ति' करवा कर सत्ता फ़ौज को सौंपनी पड़ी। राजनीतिशास्त्र के विद्यार्थियों को भी अमरीका की यह नयी शब्दावली अपने दिमाग में बिठा लेनी चाहिए कि फ़ौज को सत्ता सौंपने को भी अब से 'डेमोक्रेटिक रेवोल्यूशन' कहा जायेगा।

अपनी इसी योजना के तहत अमरीका ने सीरिया में भी क्रान्ति की कोशिश की लेकिन उसके दुर्भाग्य से अब तक चुप रहे रूस ने पानी सिर से ऊपर जाता देख, इस अश्वमेध यज्ञ का घोड़ा रोकने का निश्चय कर लिया। इसलिये फ्रांस, इटली आदि देशों द्वारा खुलमखुल्ला सीरिया पर हवाई हमला करके सरकार विरोधी गुटों को सहायता पहुँचाने के बावजूद बशर असद को सीरिया में सत्ता से नहीं हटाया जा सका। लेकिन यूक्रेन में सालों से जारी रूस विरोधी भावनायें भड़काने के अमरीकन प्रयास जरूर रंग लाये और वहाँ सत्ता पर यूरोप व

अमरीका समर्थकों ने कब्जा कर लिया। इस पर रूस ने त्वरित कार्यवाही करते हुये क्रीमिया में फ़ौजें भेजकर वहाँ रूसी भाषी लोगों और अपने तेल और फ़ौजी प्रतिष्ठानों की सुरक्षा की जिम्मेवारी संभाल ली।

ध्यान रहे कि यूक्रेन की दो तिहाई गैस सप्लाई रूस के हाथों में है और उसमें से रूस यूरोप को उसकी कुल जरूरत का लगभग तीस प्रतिशत भाग सप्लाई करता है। यह सारा व्यापार यूक्रेन के क्रीमिया क्षेत्र से होता है। रूस की इस कार्यवाही से यूक्रेन के विशाल गैस भण्डारों पर तथाकथित क्रान्ति के भेष में कब्जा करने की अमरीकन मंशा धरी की धरी रह गई और पूरी क्रान्ति की सारी हवा निकल गई। इससे यह बिल्कुल स्पष्ट हो जाता है कि यह सारी क्रान्तियां तेल और गैस भण्डारों पर कब्जा करने की ही चाल थी।

यूक्रेन में इन तेल भण्डारों पर कब्जा न कर पाने का नतीजा यह निकला कि क्रान्ति के बाद आजाद हुए लोग यूक्रेन को 'यूरोपियन यूनियन' में शामिल करना चाहते हैं लेकिन 'ई.यू.' इन्हें मिलाने को तैयार ही नहीं। सही भी है कि जब तुम्हारे पास तेल भण्डार ही नहीं तो ई.यू. इस कूड़े को लेकर करे भी क्या। उसने तेल के लिये क्रान्ति करवाई थी न कि यूक्रेन के लोगों के लिये। यूक्रेन में 'क्रान्ति' की

असफलता के बाद अमरीका में यह दबाव बढ़ रहा है कि वह यूरोप को अपने भण्डारों में से गैस सप्लाई करके रूस के दबाव को कम करे। लेकिन रूस के पास उपलब्ध विशाल गैस भण्डारों को देखते हुए लगता है कि मन्दी से त्रस्त यूरोप में यह योजना कामयाब नहीं हो सकेगी क्योंकि रूस अपने विशाल गैस भण्डार के कारण अमेरिका से बहुत ही कम रेट पर लम्बे समय तक गैस सप्लाई कर सकता है। लिहाजा यह तय है कि यूरोप रूस से गैस लेता रहेगा और उसके विरुद्ध आर्थिक प्रतिबन्ध जैसी कार्यवाही से भी परहेज करेगा।

भारत ने दबी जुबान से रूसी कार्यवाही का समर्थन किया है। लेकिन जब सस्ते रेट पर और रुपये में भुगतान की सुविधा देने के बावजूद भारत ने अमरीकन दबाव में आकर ईरान से तेल और गैस का आयात कम कर दिया था तो अब कितने दिन भारत इस दबाव का सामना करेगा कह नहीं सकते। क्योंकि जनता पर पड़ने वाले बोझ की तो चिन्ता इस सरकार को कभी रही नहीं। और दूसरी तरफ प्रधानमंत्री पद के दूसरे दावेदार नरेन्द्र मोदी तो अमेरिकन वीजा पाने के लिये ही इतने हाथ-पांव जोड़ चुके हैं कि अवसर मिलने पर अमेरिका की गुलामी में किस हद तक न्यौछावर हो जायेंगे पता नहीं।

-अजातशत्रु